

लघु सारांश

प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था—एक अनुशीलन (वैदिक काल से लेकर आठवीं सदी ई० तक)

वर्ण व्यवस्था — वर्ण व्यवस्था की व्युत्पत्ति 'वृ×k*' वरणे या 'वरी' धातु से हुई है जिसका अर्थ है— चुनना या वरण करना। संभवतः वर्ण से तात्पर्य 'वृत्ति' से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्व वैदिक युग को समाज रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वैदिक समाज के प्रारम्भिक चरण में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ है। उषा को अरुण वर्ण तथा रात्रि को कृष्ण वर्ण कहा गया है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक चरणों में वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी उस समय दो वर्ण थे एक आर्य दूसरा अनार्य (दास)।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में प्रथमतः चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) की परिकल्पना आदि पुरुष के चार अंगों से की गयी है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यःकृतः।

उरुतदस्ययद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत॥

यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक संगठन एक शरीर के रूप में कल्पित किया गया है। जिसका लाक्षणिक अर्थ लगाया गया है कि मनुष्य मात्र को शिक्षा देने (मुख) वाले ब्राह्मण, रक्षा करने वाले (बाहु) क्षत्रिय, भोजन या अन्न प्रदायक (निचला भाग अन्नाग्राहक) वैश्य तथा सभी की सेवा (पैर) वाले शूद्र है। इस प्रकार इसमें चारों वर्णों के क्रम उनकी दैवी उत्पत्ति तथा उनकी उच्चता—निम्नता भी प्रकट

है। यद्यपि ऋग्वेद के दशम् मण्डल के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों का उल्लेख अवश्य हुआ है जितनी ऋग्वेद के अन्य मण्डलों की है।

आर्यों ने समाज के जिन विभिन्न समूहों अथवा वर्गों का निर्माण किया गया उनमें समूहों अथवा वर्गों का निर्माण किया गया उनमें उनके गुण के साथ-साथ उनके प्रधान कर्म को भी महत्व दिया गया। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों अथवा समूहों को उनके प्रधान गुण और कर्म के आधार पर विभाजित किया गया तथा उनके कर्मों को प्रबल रूप से व्यवस्थित किया गया। वर्ण व्यवस्था में कर्म का बहुत योगदान रहा जिसमें वैदिक युग के शुरू में ही जो लोग विद्या, शिक्षा, यज्ञ इत्यादि धार्मिक रूचि रखते थे, वे ब्राह्मण वर्ग कहलाये। इनका मुख्य कर्म अध्ययन, अध्यापन, याजन और तप था जो वर्ग कहलाये। जिसका पशुपालन, कृषि तथा व्यापार प्रधान कर्म था वह वैश्य कहलाये। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र वर्ण का कर्तव्य कहा गया। इस प्रकार वर्णों के ये प्रधान कर्म थे जिससे समाज में चार वर्णों का निर्माण किया गया और कर्म को एक सामाजिक व्यवस्था प्रदान किया। इस वर्गगत कर्मों को वर्णधर्म कहा गया जो अपने-अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते थे।

इसी प्रकार महाभारत में आदिपुरुष के स्थान पर ब्रह्म तथा पुराणों में विष्णु को वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादक कहा गया है। जबकि भगवत गीता में भगवान श्री कृष्ण भी कहते हैं कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है तथा मैं उसका कर्ता और विनाशक हूँ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्व यकर्तारमव्ययम्॥

बौद्ध दर्शन में महात्मा बुद्ध ने भी कहा है कि 'मनुष्य जन्म से नहीं अपितु कर्म से ब्राह्मण या शूद्र है। जबकि सांख्य दर्शन में गुणत्रय (सत्त्व, रजस्, एवं तमस) के आधार पर मनुष्य का वर्गीकरण किया गया है। जिसमें सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण सात्विक—राजसिक प्रधान क्षत्रिय, राजसिक—तामसिक प्रधान वैश्य तथा तामसिक प्रधान शूद्र है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था अपने मूल अर्थ में गुण एवं कर्म पर प्रतिष्ठित था।

ऋग्वैदिक समाज में 'वर्ण—व्यवस्था' यह जन्म एवं वंश परम्परा से उन्मुक्त था। इस समय कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को अपना सकता था। ऋग्वेद के नवें मण्डल में उल्लेख मिलता है कि 'मैं कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य थे। मेरी माता अन्न पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना करते थे। इस प्रकार कोई भी मनुष्य जन्म से न होकर कर्म के आधार पर व्यवसाय अपना सकता था। वर्ण व्यवस्था में दैशिक—कालिक स्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी द्रष्टव्य होता है।

उत्तर वैदिक काल में वर्ण—व्यवस्था का मूल रूप विद्यमान रहा लेकिन कतिपय सन्दर्भों में हम वर्णों के बीच प्रथमतः भेदभाव भी पाते हैं। जैसा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए अलग—अलग यज्ञोपवीत का विधान किया गया। शतपथ ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए क्रमशः 'ऐहि', 'अगच्छ', 'आद्रव' तथा 'आधाव' शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। लेकिन उत्तर वैदिक काल में कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान के बल से ब्राह्मण बन सकता था। जैसा कि राजा जनक अपने ज्ञान से ब्राह्मण हो गये।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में ऋग्वैदिक विचारों का स्थान मिला तथा उसमें और अधिक विकास हुआ। वर्ण—व्यवस्था के जन्मना होने के कारण क्रमशः

वर्गों में जटिलता आयी, इसलिए उनके कर्तव्य तथा अधिकार के विषय में विस्तार से विवेचन हुआ। इससे वर्णों के पारस्परिक अन्तर में वृद्धि हुई। वर्ण विभाजन का अन्तर को सबल बनाने के उद्देश्य से ही विभिन्न वर्णों के अलग-अलग सम्बोधन करने का विचार व्यक्त किया गया। यह भी कहा गया कि स्व-वर्ण के कार्य करने से व्यक्ति अच्छा फल प्राप्त करता है तथा अगले जन्म में श्रेष्ठ वर्ण में जन्म लेता है। इस प्रकार वर्णों के क्रम में परस्पर भिन्नता भी मिलती है, जिससे श्रेष्ठत्व के लिए प्रतिस्पर्धा की स्थिति का आभास मिलता है।

सूत्रकाल (600 – 300 ई०पू०) –

प्रत्येक वर्ण के कार्यों में और जटिलता आयी अब वर्ण का जाति की ओर सांकेतिक संक्रमण प्रारम्भ हुआ एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को अलग-अलग दण्ड मिलता था। उत्तर वैदिक काल में वर्णों का आधार कर्म था। जन्म कोई महत्व नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे जन्म वर्णों का आधार बन गया और 'वर्ण' जाति में बदलने लगे। ब्राह्मण-चिन्तकों के विपरीत जैन एवं बौद्ध चिन्तकों ने वर्ण को परिवर्तनीय माना और साधना से ही श्रेष्ठता प्रदर्शित होने का विचार व्यक्त किया। इस काल में शूद्रों के प्रति कठोरता तथा द्विजों के प्रति उदारता दृष्टिगत होती है। धर्म से प्रभावित समाज को धर्म से नियंत्रित करने का विचार जैन एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों का था। इस काल में अनेक धर्मों के कारण समाज में अव्यवस्था की स्थिति आ गयी थी।

महाकाव्य काल से लेकर पूर्व गुप्तकाल (300 ई०पू०-300 ई०) –

उत्तर वैदिक काल में जो वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप था वही महाकाव्य काल में मिलता है। पूर्वकाल में जैन एवं बौद्ध धर्मों से प्रभावित वर्ण-व्यवस्था पर

इस काल में पुनर्व्यवस्थित करने तथा एक नया आयाम देने का कार्य इस काल में किया गया। पुनः कर्म को प्राथमिकता मिली, महाभारत में लिखा है कि 'न जन्म से न संस्कार न विद्वता किसी व्यक्ति की द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते हैं, केवल कर्म ही उसे द्विजाति बना सकते हैं। विदुर तथा मातंग जैसे शूद्रों को सद्कर्मों के कारण सम्मान प्राप्त था। इसी समय प्रत्येक वर्ण के लिए विशिष्ट कर्तव्यों के अलावा आपत्ति की स्थिति में आपद्धर्म का भी विधान किया गया।

पर इस काल में पुनर्व्यवस्थित करने तथा एक नया आयाम देने का कार्य इस काल में किया गया। पुनः कर्म को प्राथमिकता मिली, महाभारत में लिखा है कि 'न जन्म से न संस्कार न विद्वता किसी व्यक्ति की द्विजाति की श्रेष्ठता दिला सकते हैं, केवल कर्म ही उसे द्विजाति बना सकते हैं। विदुर तथा मातंग जैसे शूद्रों को सद्कर्मों के कारण सम्मान प्राप्त था। इसी समय प्रत्येक वर्ण के लिए विशिष्ट कर्तव्यों के अलावा आपत्ति की स्थिति में आपद्धर्म का भी विधान किया गया।

गुप्तकाल से आठवीं ई० तक –

गुप्तकाल में यह प्रक्रिया और भी व्यापक होती है। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। गुप्तकाल में ही मयूरशर्मा का ब्राह्मण होकर क्षत्रिय के रूप में शासन, प्रभावती गुप्ता का वाकाटकों से विवाह तथा यवन पहलव आदि की प्रशासन में भागीदारी इसको सिद्ध करता है। इसी समय जन्म आधारित 'जाति व्यवस्था' एवं उपजातियों का भी वर्ण व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था का स्पष्टता से खण्डन किया है। अतः वर्ण व्यवस्था में अब कर्म और गुण के साथ जन्म प्रभावी तब बन गया।

धर्मसूत्रों और प्रारम्भिक स्मृतियों के काल में जाति व्यवस्था ने विकसित रूप प्राप्त कर लिया था। अब वर्ण और जाति में मूलभूत अन्तर यही रह गया था कि वर्ण केवल चार थे जबकि जातियाँ अनेक थीं और इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती गई। यवन शक् कुषाण आदि जातियाँ विदेशी थी। इन्होंने अधिकतर प्रशासन में भाग लिया अतः गुप्तकाल से पूर्व ही उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दे दिया गया। इसका अर्थ यह था कि इस काल में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की परंपरा कुछ अंश में विद्यमान रही। गुप्तकाल में वैश्यों ने पुष्कल धनराशि दान में देकर पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध चिकित्सालय की स्थापना की। वैश्यों की अपनी श्रेणियां थी। उनका देश के उद्योग पर पर्याप्त प्रभाव था। इसलिए उनके प्रतिनिधि नगर निगम की कार्यकारिणी के सदस्य होते थे। संभवतः है कि गुप्तकाल में वैश्यों की स्थिति जो निर्धन थे, शूद्र जैसी हो गयी।

गुप्तकाल में शूद्रों की स्थिति में जो आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुए वे उक्त समुदाय की बदलती हुई सामाजिक स्थिति के सूचक है। निष्कर्षतः गुप्तकाल में शूद्रों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ था। गुप्तकाल में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धान्त और जन्म पर आधारित जाति सिद्धान्त दोनों का प्रभाव समाज पर पड़ा है।

वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक आधार कर्म था किन्तु कालान्तर में वर्ण कठोर होकर विभिन्न जातियों में परिणत हो गया। तथा जाति का आधार विशुद्ध रूप से जन्म हो गया। जातियों के व्यवसाय प्रायः सुनिश्चित होते हैं किन्तु वर्ग के व्यवसाय परिवर्तनशील है। किसी निम्न वर्ग का व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कार्य कुशलता बढ़ाकर उच्चवर्ग में स्थान ले सकता है, जबकि जाति में यह संभव नहीं था। इस प्रकार वर्ग विभाजन का मुख्य आधार व्यवसाय ही है। गुप्तकाल में

जाति व्यवस्था एवं उपजातियों का भी वर्ण व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा। इससे समाज व्यवस्थित हुआ। और एक निश्चित नियम में बंधा तथा वर्ण संकरता पर नियंत्रण लगा। सामाजिक नियमों के कठोर होने और सामान्यतः विवाह अपने-अपने वर्ण में होने से वर्ण संकरता में रोक लगा। जो समाज के लिए हितकर हुआ। क्योंकि वर्ण संकरता से सामाजिक व्यवस्था के विघटन की प्रबल संभावनाएँ थी।

वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के संगठित होने के फलस्वरूप शिल्प कौशल में वृद्धि हुई। पिता द्वारा पुत्र के व्यवसाय अधिग्रहण से कार्यकुशलता बढ़ना स्वाभाविक था। सामान्यतः ऐसे व्यवस्थित समाज में व्यावसायिक ईर्ष्या नहीं आपसी तालमेल एवं प्रतिस्पर्धा बनी रहने की प्रबल संभावनाएं रहती थी। जब तक सामाजिक समन्वय बना रहा तब तक वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था समाज के लिए हितकर रही। सारे अच्छाईयों के बावजूद वर्ण व्यवस्था में आंतरिक संघर्ष विद्यमान था। आगे चलकर अस्पृश्यता जैसी उत्कृष्ट प्रथा के जन्म का कारण वर्ण-व्यवस्था की कठोरता ही है जो समाज के लिए अभिशाप बनी इसी भावना के विरुद्ध आवाज उठाकर जैन एवं बौद्ध धर्म ने कीर्ति अर्जित की थी। यज्ञो एवं वेदों के अध्ययन में स्त्री तथा शूद्रों के अधिकार न दिये जाने की घोषणा कठोर वर्ण-व्यवस्था का परिणाम थी। जिसमें आगे चलकर द्विजेत्तर जातियों को इनके प्रति विरोधी प्रवृत्त का बना दिया। इस प्रकार इस काल में विद्यमान जाति व्यवस्था की कठोरता, जातियों की संख्या में बढ़ोत्तरी, अस्पृश्यता में वृद्धि आदि सम्बन्धी कुछ ऐसी कुप्रथाओं की नींव पड़ी, जो समय के साथ-साथ मजबूत होती चली गयी। जिसके दुष्परिणामों से समाज को सहन करना पड़ा।